आनन्द सूत्रम्

श्रीश्री आनन्दमूर्ति

आनन्द-सूत्रम्

श्री श्री आनन्दमूर्त्ति

प्रकाशक :

आचार्य प्रियकृष्णानन्द अवधूत

प्रकाशन सचिव :

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (रजिस्टर्ड)

तिलजला, कलकत्ता-३९

प्रथम संस्करण—फरवरी, १९६५ ई०

द्वितीय संस्करण—दिसम्बर, १९८१ ई०

तृतीय संस्करण—मई, १९९० ई०

मुद्रक :

आचार्य पीयूषानन्द अवधूत

Rs. 5/-

प्राप्तिस्थान :

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ

भि, आई, पी, नगर, तिलजला

कलकत्ता-३९

चरम निर्देश

जो दोनों समय नियमित रूप से साधना करता है, मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उसके मन में अवश्य ही जगेगी तथा निश्चितरूप से उनकी मुक्ति होगी ही। अतः प्रत्येक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी ही होगी—यही है परमपुरुष का निर्देष। यम-नियम के विना साधना नहीं हो सकती। अतः यम-नियम का पालन करना भी परमपुरुष का ही निर्देश है। इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि-कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना। किसी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना नहीं पड़े तथा परमपुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकर शाश्वती शान्ति लाभ करें; इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्द-मार्ग के कल्याण-पथ पर लाने की चेष्टा करना ही प्रत्येक आनन्द-मार्गी का कर्त्तव्य है। दूसरों को सत्-पथ का निर्देशन करना साधना का ही अङ्ग है।

—श्री श्री आनन्दमूर्ति

१/२ शक्तिः सा शिवस्य शक्तिः ।

Shaktih sa' Shivasya shaktih.

भावार्थ :—प्रत्येक वस्तु के उपादान और निमित्त कारण होते हैं। इसके अतिरिक्त निमित्त के साथ उपादान का संयोग-स्थापक क्रिया भाव भी है। इस क्रियाभाव की मात्रा के अनुसार ही निमित्त की, उपादान के साथ दृढ़ता या शिथिलता निर्धारित होती है। सृष्टि के विकास में पुरुष-तत्व उपादान कारण हैं; प्रकृति-तत्व निमित्त के साथ उपादान की सम्पर्क-स्थापिका शक्ति है तथा निमित्त-कारण के रूप में पुरुष-भाव मुख्य एवं प्रकृति-भाव गौण है। पुरुष सर्वानुस्यूत सत्ता है। अतः इसके व्यतिरेक कुछ भी उपादान कारण के रूप में सिद्ध नहीं हो सकता। प्रकृति तत्व सर्वानुस्यूता नहीं होने के कारण पुरुष की आश्रिता है। पुरुष स्वदेश में प्रकृति को जितना कार्य करने का अवसर देता है, वह केवल उतना ही कार्य कर सकती है। इसीलिए सृष्टि के विज्ञान में कारण-सत्ता के रूप में पुरुष को ही मुख्य निमित्त-कारण कहा जा सकता है। प्रकृति, पुरुष प्रदत्त अधिकार को, व्यवहार में ला कारक-रूप में स्वयं को प्रतिपन्न करती है। इसीलिए वह गौण निमित्त कारण है। इस निमित्त कारण के द्वारा उपादान-कारण में जो विकृति या अभिव्यक्ति होती रहती है जिसे हम जागतिक विकाश कहते हैं वह प्राकृत गुणत्रय के द्वारा सम्पन्न होती है। इसीलिए प्रकृति, निमित्त कारण तथा उपादान-कारण की सम्पर्क स्थापिका शक्ति है। प्राकृत प्रभाव की अल्पता

या अधिकता के ऊपर ही वस्तु-देह की दृढ़ता या शिथिलता सम्पूर्णरूपेण निर्भर करती है।

सभी क्षेत्रों में पुरुष की ही भूमिका मुख्य है। पुरुष ने प्रकृति को कार्य करने का जितना अधिकार दिया है या देता है, प्रकृति उतना ही कार्य करती है या कर पाती है। सृष्टि के विकाश-क्रम में पुरुष उसे कार्य करने का अधिकार प्रदान करता है और प्रकृति कार्य करती चलती है। गुणत्रय के बन्धन के कारण सूक्ष्म पुरुष क्रमशः स्थूलत्व प्राप्त करता जाता है। स्थूलत्व की चरम अवस्था में पुरुष धीरे-धीरे प्रकृति के पूर्व प्रदत्त सुयोग और स्वाधीनता को संकुचित करता रहता है। इसीलिए स्थूल पुरुष क्रमशः सूक्ष्मत्व अर्जन करते-करते चरम अवस्था में अपने स्वभाव में लौट आता है। प्राकृत बन्धन के कारण पुरुष-देह में जो विकाश-धारा है उसे दार्शनिक विचार से सञ्चर कहा जाता है और बन्धन की क्रम बर्द्धमान शिथिलता के कारण पुरुष देह में जो क्रमिक मुक्ति का भाव आता है उसे प्रतिसंचर कहा जाता है। स्पष्ट है कि प्राप्त अधिकार के सद्‌व्यवहार में प्रकृति के स्वाधीना होने पर भी अधिकार पाना या न पाना पुरुष या चिति शक्ति पर निर्भर है। इसलिए कहना पड़ता है कि प्रकृति पुरुष की ही प्रकृति है—शक्तिः सा शिवस्य शक्तिः।

आनन्द सूत्रम्

१/१ शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म ।

Shiva-shaktya'tmakam' Brahma.

भावार्थ :—शिव और शक्ति दोनों का मिलित नाम ही ब्रह्म है। कागज के तख्ते के दो पृष्ट होते हैं। इन पृष्टों से उनकी उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार कागज के तख्ते से किसी भी अवस्था में कोई पृष्ट एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ब्राह्मी सत्ता में पुरुष तथा प्रकृति का सन्बन्ध है। एक को हटाने से दूसरे की स्थिति संकटापन्न हो जाती है, इसीलिए, ऐसा कहा जाता है कि पुरुष और प्रकृति अविनाभावी हैं। युक्ति और तर्क के लिए यद्यपि ये दो मान लिए गये हैं परन्तु वास्तव, में वे अविच्छिन्न हैं।

शिव या पुरुष दार्शनिक शब्द के रूप में व्यापकभाव से ब्यवहृत होने पर भी, लौकिक क्षेत्र में आत्मा के लिए ही प्रयुक्त होता है। शिव शब्द का अर्थ साक्षी चैतन्य है एवं पुरुष का भी अर्थ यही है—पुरे शेते यः सः पुरुषः। अर्थात् प्रत्येक सत्ता में जो साक्षीबोध सोया हुआ है उसे ही पुरुष कहा जाता हैं। आत्मा शब्द का अर्थ सर्वप्रतिसंवेदी है।

शरीरबोध का प्रतिसवेदन मानस-पट पर होता है ; अर्थात् शरीर को जड़ तरंगें मानस–पट से टकरा कर जो प्रतिफलन उत्पन्न करती हैं उस प्रतिफलन के फलस्वरूप ही मानस-भूमि में शरीर का बोध जगता है। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक जड़ वस्तु की तरंगें ज्यों ही किसी के मानस-पट से टकराती हैं ; त्योंहो उस वस्तु का प्रतिफलन होता है तथा उस व्यष्टि के मानस-पट पर उस जड़ वस्तु का बोध उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार मानस तरंग भी आत्मिक सत्ता से टकराती हैं तथा इसके फलस्वरूप उन मानस तरंगों का भी प्रतिफलन (reflection) होता है और आत्मा एवं जीव अविच्छिन्न है, यह बोध जग पड़ता है। मानस-तरंग भावना—को यदि दार्शनिक भाषा में संवेदन कहा जाय तो आत्मिक पट पर मानस-तरंग के प्रतिफलन को प्रतिसंवेदन कहा जायगा और आत्मिक पट वही है जो उसके मनका प्रति-संवेदी है। जगत् की सभी वस्तुओं—स्थूल, सूक्ष्म, एवं कारण–की अवस्थिति मानस-तरंग या संवेदन में ही है। इसीलिए पूर्णरूपेण युक्ति-युक्त भाव से यह कहा जा सकता है कि यह आत्मा है सर्वप्रतिसंवेदी। इस सर्वप्रतिसंवेदी आत्मा के रहने के कारण ही जगत् की सभी वस्तुओं का अस्तित्व है। वे चीजें परोक्ष अपरोक्ष क्षुद्र या व्यापक ही क्यों न हों, तत्वगत दृष्टि से सिद्ध और स्वीकृत हो रही हैं। यदि आत्मा नहीं रहता, तो सभी का अस्तित्व विपर्य्यस्त हो जाता।

अहंतत्व (doer I) कहा जाता है। तथा जिस शक्ति सम्पात से यह उत्पन्न होता है उसे ही रजो गुण (Mutative principle) कहा जाता है। प्राकृत शक्ति के क्रमिक धारा-प्रवाह में अधिक शक्ति संपात के कारण परिशेष में उद्भूत होता

विषय भाव या पुरुष की चरम स्थूलत्व प्राप्ति (The crudest objective counter-part of the subjective cosmos)। पुरुष की इस अवस्था को चित्त कहा आता है (Mind stuff)। जिस शक्ति सम्पात के कारण इसकी उत्पत्ति होतो है प्रकृति की उस शक्ति को तमोगुण (static principle) कहा जाता है। अर्थात् एक ही पुरुष से प्रवृत्ति की ओर इसको क्रमिक गुणधारा में हो सञ्चर क्रिया निष्पन्न होती है।

१/६ निवृत्तिमुखी प्रतिसञ्चरः गुणावक्षयेण।

Nivrittimukhii pratisaincarah gun'a'vaks'ayen'a.

भावार्थ :—वृत्ति की वृद्धि प्रवृत्ति है, तथा वृत्ति की ह्रास-प्राप्ति निवृत्ति है। सञ्चर की धारा में पुरुष में प्राकृत प्रभाव से वृत्ति का चरम व्यक्तिकरण होता है। तमोगुणो प्रवृत्ति के प्रभाव से पुरुष देह में चित्त सत्ता की उत्पत्ति होती है वह जीवात्मा के लिए जब अनुभव्य या वेदनीयरूप से गृहित होती है तभी वह पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ तथा पञ्च तन्मात्र के रूप में प्रतोयमान होतो है। गुणधारा की जब चरम अवस्था आती है, गुण का अवक्षय प्रारम्भ होता है। अवक्षय का अर्थ है,

पुरुष या प्रकृति के अधिकार को संकुचित करते रहना। इसके फलःस्वरूप पुरुष के आकर्षण से प्रकृति विश्वकेन्द्र पुरुषोत्तम की ओर अग्रसर होती रहती हैं। इसके ही प्रभाव से क्रमशः जड़ पञ्चमहाभूत, जीव-देह, जीव-प्राण तथा जीवमन में रूपांतरित (metamorphosed) होते रहते हैं। गुण के अवक्षय के कारण अन्त में जीव-मानस पुरुषोत्तम में लीन हो जाता है। जीव-मानस अपने मूल कारण में लीन हो जाता हैं इसलिए प्रतिसंचर की चरम अवस्था गुणवर्जित अवस्था हैं। इसे ही व्यष्टि जीवन का प्रलय कहा जा सकता हैं।

१/७ दृक् पुरुषः दर्शनं शक्तिश्च।

Drk purus'ah darshanam' shaktishca.

क्रिया भाव दर्शन है। साक्षी भाव दृक् के अनस्तित्व में दर्शन असिद्ध रहता हैं। मनन, वचन, श्रवण ग्रहण ये सभी क्रियायें, भाव हैं। इन क्रिया भावों का अस्तित्व जिस साक्षीतत्व से निष्पन्न होता है, वह दृक भाव ही पुरुष है और उसके आश्रय में जिस क्रिया-भाव की अभिव्यक्ति होती है वही प्राकृत गुण-सम्पन्न है। जड़-तरङ्ग के व्यक्तिकरण को यदि क्रिया-भाव कहें तो उसके उस दिशा में उसके आपात साक्षी को चैतिक सत्ता कहना होगा। चैत्तिक स्फुरण को यदि क्रिया भाव कहें, तो उसके आपात साक्षी को अहंतत्व (ego) कहेंगे। अहं के विकाश को यदि क्रिया भाव कहें, तो उसका आपात साक्षी महतत्व है। मैं हूँ के अस्तित्व बोध की या महतत्व को यदि क्रिया भाव

१/३ तयोः सिद्धिः सञ्चरे प्रतिसञ्चरे च।

Tayoh siddhih Sain'care pratisain'cara ca.

भावार्थ :—किसो सत्ता का अस्तित्व उसकी कर्मधारा, भावना धारा अथवा साक्षीतत्व से निष्पन्न होता है। साक्षीत्व भाव पुरुष का तथा शेष दो भाव मूलतः प्रकृति के हैं। इसीलिए कर्मधारा या भावना धारा की हेतुभूत सत्ता के रूप में प्रकृति की सत्ता तभी सिद्ध होती है, जब वह स्वयं विषय—भाव ग्रहण करती है, वह स्वयं विषय भाव के साथ मिल कर एक हो जातो है। प्रकृति जो विषय—भाव ग्रहण करती है, वह पुरुष के ऊपर उसके क्रमवर्द्धमान प्रभाव के कारण ही होता है। प्रकृति के इस विषय भाव का ग्रहण, पुरुष पर उसके क्रम-वर्द्धमान प्रभाव से अर्थात् सञ्चर-क्रिया में; या क्रम-ह्रस्वमान प्रभाव से अर्थात् प्रति-सञ्चर क्रिया में निष्पन्न होता है। प्रकृति का प्रकाश सञ्चर या प्रतिसञ्चर क्रिया में ही होता है। प्रकृति के इस प्रकार के उपादान कारण के रूप में पुरुष तो है हीं, इसके अतिरिक्त सर्वावस्था में पुरुष का साक्षीत्व है।

१/४ परम शिवः पुरुषोत्तमः विश्वस्य केन्द्रम्।

Paramashivah Parus'ottamah vishvasya Kendram.

भावार्थ :—त्रिगुणात्मिका प्राकृत शक्ति मूलतः पुरुष भाव को अपनी क्रम—वर्द्धमान बन्धनी शक्ति के द्वारा आपात् दृष्टि से जड़ में परिणत करती जा रही है। यह इसकी क्रिया की एक धारा है और दूसरी धारा वह है जो जड़ पर से गुण—त्रय के प्रभाव

को क्रमशः शिथिल कर पुरुष को स्वभाव में लौटा लाती है, अर्थात् बन्धन क्रिया की परि-समाप्ति कराती है। प्राकृत शक्ति की प्रथमोक्त धारा केन्द्रातोगा (centrifugal) है तथा अपरोक्त केन्द्रानुगा (centripetal) है। इस केन्द्रातीगा और केन्द्रानुगा की मदद से ही ब्रह्म-चक्र या सृष्टि-चक्र व्यक्त होता है। इस ब्रह्म-चक्र का जो प्राण-केन्द्र (nucleus) है वह पुरुष का स्वभाव है। समग्र ब्रह्म-चक्र का उपादान कारण पुरुष या शिव (Conciousness) हैं और उनके इस प्राण-केन्द्र को परम शिव या पुरुषोत्तम कहा जाता है।

१/५ प्रवृत्तिमुखी सञ्चरः गुण धारायाम्।

Pravrttimukhii saincarah gun'adha'ra'ya'm.

भावार्थ :—ब्रह्म-चक्र के प्राण-केन्द्र से प्रकृति के प्रभाव के कारण पुरुष के जड़ाभिमुखी विकाश को ही प्रवृत्ति (extrovertial phase) कहते हैं। साक्षी-स्वरूप पुरुषोत्तम में प्राकृत—शक्ति के प्रथम सम्पात के कारण अस्तित्व बोध जगता है। दार्शनिक भाषा में इस अस्तित्व बोध को ही महत्तत्व कहा जाता है। जिस प्राकृत शक्ति सम्पात से इस महत्तत्व की उत्पत्ति होती है उसे ही प्रकृति का सत्व—गुण (Sentient Principle) कहा जाता है। गुण का अर्थ है बाँधने को रस्सी (Binding Principle) महत्तत्व के ऊपर प्रकृति धारा—प्रभाव तथा प्राकृत शक्ति के दूसरे सम्पात से ही कर्तृत्वबोध तथा स्वामीत्व-बोध उत्पन्न होता है। पुरुष की इस परिवर्तित अभिव्यक्ति को

उसकी गति ऋणात्मक सञ्चरात्मिका हो जाती है। किन्तु जड़-स्फोट के फल से उद्भूत सूक्ष्मतर वस्तु-समूह उसके बाद भी सञ्चर के पथ पर ही चलता रहता है।

क्रमवर्द्धमान गुण प्रवाह में ब्राह्मी चित्त का आकाशभूत, क्रमशः मरुत में, मरुत क्रमशः तेज में, तेज क्रमशः अप् में, एवं अप् क्रमशः क्षिति में रूपान्तरित होता रहता है। यह रूपान्तरण क्रिया जितनी ही अधिक आगे बढ़ती जाती है, उतना ही भूत देह में गुण-वैचित्र्य दिखाई पड़ता है तथा आयतन भी ह्रास प्राप्त होता रहता हैं। आयतन की ह्रास—प्राप्ति का अर्थ है आभ्यातन्तरीण संघर्ष—वृद्धि। वाह्यिक गुण प्रवाह के प्राबल्य के कारण ही ऐसा होता है। अतिरिक्त आभ्यन्तरीण संघर्ष के कारण वस्तुदेह में विस्फोरण होता है और वह चूर्ण—विचूर्ण होकर सूक्ष्मतरभूत में रूपान्तरित हो जाता है। गुणाधिक्य के कारण यह जड़स्फोट तभी होता है जब क्षितिभूत की मात्रा अन्यान्य भूतों की तुलना में अस्वाभाविक रूप में बढ़ जाती है। भूत समूह की पारस्परिक मात्रा में अति न्यूताधिक्य नहीं रहने पर जड़स्फोट के बदले जीवदेह की उत्पत्ति होती है।

१/१० गुणप्रभावेन भूतसंघर्षाद्‌बलम्।

Gun'aprabha'ven'a bhu'tasam'ghars'a'dbalam.

वस्तुदेह के ऊपर गुण का बन्धन जितना दृढ़ होता रहता

है, उसके अभ्यन्तर में भी संघर्ष उतना ही अधिक बढ़ जाता है। यह जो संघर्ष या शक्तिचालन है, इसे बल या प्राण कहा जाता है। सभी भूतों में ही इस "प्राण" (Power) का अस्तित्व अल्प या अधिक परिमाण में है—यद्यपि प्राण का व्यक्तिकरण सर्वभूतों में समान रूप में नहीं होता है या नहीं हुआ है

१/११ देहकेन्द्रिकाणि परिणामभूतानि बलानि प्राणाः।

Dehakendrika'n'i parin'amabhu'ta'ni bala'ni pra'n'ah.

भावार्थ :—बहिरान्तरिक शक्तिद्वय के संघर्ष के फल से वस्तुदेह में जिस बल का उद्भव होता है, वह परिणामभूत बल (resultant force) यदि उस देह के किसी अंश में अपना केन्द्र खोज पाये, तो उस क्षेत्र में उस देह के क्रियाशील बलसमूह की समष्टि को प्राणाः शब्द सस्कृत में बहुबचन में व्यवहृत होता है क्योंकि यह प्राकृत पक्ष में दसवायुओं की समष्टि है।

१/१२ तीव्रसंघर्षेण चूर्णीभूतानि जड़ानि चित्ताणु मानसधातुः वा।

Tiivra saunghars'en'a cu'rniibhu'ta'ni jad'a'ni citta'n'u ma'nasadha'tuh va'.

भावार्थ :—यदि वस्तुदेह में बल का विकाश तीव्र हो पड़े; तो उस दिशा में वस्तुदेह में अत्यधिक सघर्ष के फलस्वरूप

कहें तो उसके साक्षी भाव अर्थात् मैं हूँ "मैं जानता हूँ कि मैं हूँ", यह भाव ही चरम साक्षीरूप में ग्रहणीय है। यह जो "मैं जानता हूँ" है यह किसी का आपात् साक्षी नहीं है। सर्वावस्था में सभी वस्तुओं का परम साक्षी है। अतः विशुष्क विचार से यह भाव ही दृक् पर्यायुक्त है। यह ही पुरुष का विषय युक्त स्वभाव (attributed consciousness) है।

१/८ गुणबन्धनेन गुणाभिव्यक्तिः।

Gun'abandhanena gun'a'bhivyaktih.

गुण का अर्थ बांधने की रस्सी हैं। जिस वस्तु पर जितना ही दृढ़ बंधन है, वह वस्तु उतना ही स्थूलत्व-प्राप्ति करती चलती है। पुरुष-प्रदत्त स्वाधीनता से प्रकृति जब पुरुष को बांधती है तब क्रमवर्द्धमान गुणबन्धन से चेतन पुरुष महत् तत्व, अहंतत्व, चित्तादि में रूपान्तरित होता रहता है एवं इसके बाद चैत्तिक सत्ता पर अधिकतर तमोगुण के बंधन के कारण आकाशतत्व का उद्भव होता है, ततोधिक बन्धन से मरुततत्व का, ततोधिक बन्धन से अग्नितत्व का, ततोधिक बन्धन से जलतत्व का, तथा ततोधिक बन्धन से क्षितितत्व का उद्भव होता है। इस क्षिति-तत्व में भी बन्धन के मात्रा-भेद हैं। बन्धन की दृढ़ता से भूतदेह में अन्तराणविक तथा अन्तर्परमाणविक दूरत्वह्रास होता रहता है। तथा इसके फलस्वरूप जड़देह में आभ्यणतरीण संघर्ष बढ़ जाता है। बाह्यिक गुण-बन्धन के चाप तथा

आभ्यन्तरीण संघर्ष वस्तुदेह में अधिक से अधिकतर गुणाभिव्यक्ति कराता है। इस क्षेत्र में स्मरणीय है कि गुणाभिव्यक्ति का अर्थ गुण-सामर्थ्य का आधिक्य नहीं, बल्कि गुण-प्रकाश का आधिक्य तथा गुण वैचित्र्य का आधिक्य है। आकाशतत्व में शब्द वहन करने की क्षमता है। यदि मान लें कि उसका परिमाप १०० है, तो उस क्षेत्र में अधिकतर तमोगुण के बन्धन के कारण आकाशतत्व ज्यों ही वायुतत्व में रूपान्तरित होता है, त्यों ही उसमें शब्द वहन के गुण के साथ ही साथ स्पर्श गुण भी अभिव्यक्त हो पड़ता है। किन्तु गुण-सामर्थ्य की वृद्धि होने के कारण वायुतत्व में शब्द-वहन का गुण आकाशतत्व की बनिस्बत (तुलना में) कम हो जाता है, किन्तु शब्दगुण और स्पर्शगुण का मिलित परिमाप १०० ही रह जाता है।

१/९ गुणाधिक्ये जड़स्फोटः भूतसाम्याभावात्

Gun'a'dhikye jad'asphotah bhu'tasa'mya' bha'va't.

भावार्थ—वस्तुदेह के क्षितितत्व में रूपान्तरित होने के बाद भी यदि गुण का प्रयोग चलता रहे; तो उस क्षेत्र में भूत समूहों की समता नष्ट हो जाने पर जड़स्फोट होता है। जड़स्फोट की वजह से क्षितितत्व में अत्यधिक आभ्यान्तरीय संघर्ष होता है जिससे चूर्ण-विचूर्ण होकर वह सूक्ष्मतर भूत में अर्थात् क्षिति से अप या तेज या मरुत् या व्योम में सम्पूर्ण भाव अथवा आंशिक भाव से रूपान्तरित होता जाता है; अर्थात्

भावार्थ :—अनग्रसर जीवदेह में या लता गुल्म में दिखाई पड़ता है कि केवल चित्त ही का विकाश हुआ है ; किन्तु महतत्व या अहंतत्व का विकाश नहीं हुआ है ।

१/१९ महद् बर्जिते अनग्रसरे जीवदेहे लतागुल्मे
चित्तयुक्तोऽहम्

Mahadvarjite anagrasare jiivadehe lata′gulme
cittayukto'ham.

भावार्थ :—अनग्रसर जीवदेह या लता-गुल्म में भी हो सकता है कि महत् का विकाश नहीं हुआ हो, किन्तु अहम् और चित्त का विकाश हुआ हो ।

१/२० प्राग्रसरे जीवे लतागुल्मे मानुषे महदहं चित्तानि ।

Pra′grasare jiivadehe lata′gulme ma′nus′e
Mahadaham′ citta′ni.

भावार्थ :—अपेक्षाकृत उन्नत जीव में लता-गुल्म में तथा मनुष्य में महतत्व अहंतत्व तथा चित्त तीनों का विकाश होता है ।

१/२१ भूमाव्याप्ते महति अहंचित्तयोर्प्रणाशे
सगुणास्थितिः सविकल्पसमाधिः वा ।

Bhu′ma′vya′pte mahati aham′cittayorpran′a′she
Sagun′a′sthitih savikalpasama′dhih va′

भावार्थ :—निरन्तर अभ्यास के द्वारा महतत्व अर्थात् "मैं पन बोध" जब भूमा के "मैं पन बोध" में (Micro cos-

mic I feeling) में रुपान्तरित होता है तब "जैव मन" (Microcosmic mind) का चित्त, अहम् में तथा अहम् महत् में लय प्राप्त करता है। वस्तु जब अपने कारण में लय प्राप्त करती है तब उस लय को प्रलय या प्रणाश कहा जाता है। जिसके कारण "वृहत" के महत् से अहम् एवं उसके अहम् से चित्त का उद्‌भव होता है। इस कारण ही प्रति-सञ्चरात्मिका (Introvert) धारा में जब चित्त अहम् में तथा अहम् महत् में लय प्राप्त करता है तब उसे प्रणाश कहना युक्ति-संगत है। चित्त और अहम् का प्रणाश, और महत् का सर्व-व्यापयित्व की यह अवस्था ही सगुणास्थिति या सविकल्प समाधि है।

१/२२ आत्मनि महत् प्रणाशे निर्गुणास्थितिः
निर्विकल्पसमाधिः वा।

A'tmani mahatpran'a'she nirgun'a'sthitih
nirvikalpasam'a'dhih va'.

भावार्थ :—महत् को भूमा-महत् में पर्यवसित करने की साधना नहीं कर "मैं पन" बोध को चितिशक्ति में लीन कर महत् की जो प्रलीनावस्था है उसे ही निर्गुणास्थिति या निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। गुणराहित्यनिबन्ध की इस अवस्था को निर्गुणास्थिति कहा जाता है। यह अवस्था कैसी होती है इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, चुंकि—

कुछ परिणाम में जड़-सत्ता चूर्ण-विचूर्ण हो आकाशतत्व से भी सूक्ष्मचित्ताणु या मानसधातु में रूपान्तरित हो जाती है, अर्थात् जड़ से ही मन की उत्पत्ति होती है।

१/१३ व्यष्टिदेहे चित्ताणुसमवायेन चित्त बोधः।

Vyas't'idehe citta'n'usamava'yena cittabodhah.

भावार्थ :—व्यष्टि जड़ देह में उक्त जड़ देह की सामवायिकता को केन्द्र कर जिस चित्ताणुपुंज की अवस्थिति है, उसका सामवायिक भाव हो उसका चित्तबोध है। यह चित्त जीवमन का विषय भाव (Doer I or objective I) है। व्यष्टि की सभी अनुभूतियाँ दृष्ट, श्रुत जो कुछ भी क्यों न हों, चित्त में प्रतिफलित होकर चित्त को तद्भावापन्न नहीं कर सकने तक अनुपलब्ध ही रह जाती हैं।

१/१४ चित्तात् गुणावक्षये रजोगुणप्राबल्ये अहम्।

Citta't gun'a'vaks'ye rajogun'apra'balye aham.

भावार्थ :—पुरुषोत्तम के आकर्षण के कारण चित्तधातु जब विद्याशक्ति के प्रभाव से क्रमशः बढ़ चलती हैं तब उसके ऊपर से तमोगुण का प्राधान्य क्रमशः ह्रास प्राप्त होता रहता है तथा रजोगुण का प्राबल्य परिदृष्ट होता रहता है। चित्त देह के जिस अंश में इस रजोगुण का प्राबल्य परिदृष्ट होता है उसे ही अहम्तत्व या कर्तृत्वयुक्त मैं या (स्वामीत्वयुक्त मैं (Doer I or owner I) कहा जाता है।

१/१५ सूक्ष्माभिमुखिनीगतिरुदये अहंतत्वान्महत्।

Su'ks'ma'bhimukhiniigatirudaye aham'tattva'nmahat.

भावार्थ :—विद्याशक्ति के आकर्षण से क्रमशः अहंतत्व के ऊपर से रजोगुण का प्रभाव भी घटता जाता है और सत्वगुण का प्राबल्य सूचित होता रहता है। अहंतत्व के जिस अंश में सत्वगुण का प्राबल्य प्रतिष्ठित होता है उसे महतत्व (Pure I feeling) कहा जाता है।

१/१६ चित्तादहंप्राबल्ये बुद्धिः।

Citta'daham'pra'balye budhih.

भावार्थ :—चित्त की परिधि से अहं की परिधि अधिक हो पड़ने पर, उस क्षेत्र में चित्तवर्जित अहं के परिशिष्टांश को बुद्धि (intellect) कहा जाता है।

१/१७ अहंतत्वात् महतप्राबल्ये बोधिः।

Aham'tattva't mahatpra'balye bodhih.

भावार्थ—अहंतत्व से महतत्व का आयतन अधिक हो जाने पर महत् के उस बर्द्धितांश को बोधि (intuition) कहा जाता है।

१/१८ महदहंवर्जिते अनग्रसरे जीवदेहे लतागुल्मे
केवलं चित्तम्।

Mahadaham'varjite anagrasare jiivadehe
lata'gulme kevalam' cittam.

१/२३ तस्यस्थितिः अमानसिकेषु ।

Tasya sthitih ama'nasikes'u.

भावार्थ :—मन की अतीतावस्था में ही यह निगु'णा स्थिति होती हैं अतः यह मन का अनुभव्य नहीं है ।

१/२४ अभावोत्तरानन्दप्रत्ययालम्बनीवृत्ति तस्य प्रमाणम् ।

Abha'vottara'na'ndapratyaya'lambaniirvrttih tasya prama'n'am.

भावार्थ :—जाग्रदवस्था में स्थूल सूक्ष्म, और कारण Unconscious, Sub-Conscious, Conscious) मन की ये तीनों ही अवस्थाएँ क्रियाशीला रहती हैं । किन्तु जड़तर अवस्था की क्रियाशीलता के कारण सूक्ष्मतर अवस्था अप्रधान रूप में प्रतीयमान होती हैं । स्वप्न-दर्श'न के समय स्थूल मन निरुद्धावस्था में रहने के कारण सूक्ष्म एवं कारण मन दोनों ही क्रियाशील रहते हैं । निद्रितावस्था में केवल कारण मन ही क्रियाशील रहता है । निद्रितावस्था, जो एक अभाव बोध की अवस्था है, यह बात सूक्ष्म दार्श'निक विचार से स्वीकृति पाने लायक नहीं है । क्यों नहीं है ? चूँकि उस अवस्था में कारणमन के द्वारा स्थूल और सूक्ष्म मन के कार्यादि निर्वाहित होते हैं । प्रकृत अभाव की अवस्था है, मनोलय की अवस्था । इसीलिए सविकल्प समाधि भी अभाव की अवस्था नहीं है, केवल निर्विकल्प अवस्था ही अभाव को अवस्था हैं । इस चरम अभाव की अवस्था में जो आत्मिक आनन्द की

लहरें जैवी-सत्ता को आच्छन्न कर देती हैं, अभाव के बाद भी अर्थात् अभुक्त संस्कार निबन्धन से पुनः मन के उद्गम के बाद कुछ क्षण तक मन में उन्हीं लहरों का भाव बहता रहता है। उन लहरों का भाव ही मनयुक्त साधक को बताते रहता हैं कि उनकी मनःशून्य अवस्था थी एक आनन्दघन अवस्था।

१/२५ भावः भावातीतयोः सेतु तारकब्रह्म।

Bha'vah bha'va'tiitayoh setuh Ta'rakabrahma.

भावार्थ :—भावयुक्त और भावातीत निर्गुण का जो सेतु-स्थापक साधारण विन्दु है उसी का नाम तारकब्रह्म है। महासम्भूति में तारकब्रह्म सगुणरूप में प्रतिभात होते हैं।

———

द्वितीयोःध्याय

२/१ अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।

Anuku'lavedaniiyam' sukham.

भावार्थ :—जिसका संस्कार जिस तरह की मानस-तरङ्ग का प्रसुप्तरूप है, यदि वह जड़वस्तु से अथवा किसी मानससत्ता से तदनुरूप तरंग पाये, तो उसके लिये उस तरंग को "अनुकूल वेदनीय तरंग के संस्पर्श में आने को ही सुख-बोध कहा जाता है।

२/२ सुखानुरक्तिः परमा जैवीवृत्तिः ।

Sukha'nurktih parma' jaeviivrttih.

भावार्थ : जीवमात्र ही स्वयं को बचाकर रखना चाहता है, यह बचाकर रखने का भाव भी एक मानस-भाव हैं। सुख के अभाव में उसका सत्ताबोध विपन्न हो पड़ता है इसलिये सुख के अभाव को वह नहीं चाहता है, सुख की व्याप्ति को वह अपने परम आश्रय के रूप में चाहता है।

२/३ सुखमनन्तामानन्दम् ।

Sukhamanantama'nandam.

भावार्थ :—कोई भी जीव अल्प में सन्तुष्ट नहीं है—मनुष्य तो और भी नहीं है। इसीलिए थोड़े सुख से किसी का मन

नहीं भरता हैं, वह अनन्त सुख चाहता है। मह अनन्त सुख वस्तुत: सुख और दुःख की एक अतीत अवस्था है। कारण जो सुख बोध इन्द्रियवृत्ति की सहायता से उपलब्ध है, सुख के अनन्तत्व में—पर्यवसन में—वह इन्द्रिय वृत्ति के आयत्त के बाहर चला जाता है। इस अनन्त सुख का नाम ही आनन्द हैं।

२/४ आनन्दं ब्रह्म इत्याहुः।

A'nandam' Brahma itya'huh.

भावार्थ: अनन्त वस्तु अनेक नहीं हैं। वह एक ही है। अनन्तत्व में अनेकत्व रह ही नहीं सकता हैं। उस एक आनन्द-घन सत्ता का नाम ही ब्रह्म है जो शिवशक्त्यात्मक है।

२/५ तस्मिन्नुपलब्धे परमा तृष्णानिवृत्तिः।

Tasminupalabdhe parma'trs'n'a'nivrttih.

भावार्थ:—जीवों के मध्य में अनन्तत्व की तृष्णा रहती है! सान्त वस्तु से उसकी तृष्णा की निवृत्ति सम्भव नहीं है। अनन्त सत्ता एकमात्र ब्रह्म हैं, इसीलिए उनके भाव में प्रतिष्ठित होने पर ही जीव की सर्वतृष्णा से निवृत्ति होती है।

२/६ वृहदेषणा प्रणिधानं च धर्मः।

Brhades'an'a'pran'idha'nam' ca dharmah.

भावार्थ:—ज्ञातसार से हो अथवा अज्ञातसार से हो क्यों न हो, मनुष्य अनन्तत्व की प्राप्ति को ओर चल पड़ता है।

मनुष्य जब ज्ञातसार से इस वृहत् को, पाने के लिए चेष्टा करता है और तज्जन्य ईश्वर प्रणिधान करता है तब उस भाव का ही नाम धर्म है और उस प्रचेष्टा का नाम धर्म-साधना है।

२/७ तस्माद्धर्मः सदाकार्यः।

Tasma'ddharmah sada'ka'ryah.

भावार्थ :—सुख जब सबों का ही काम्य है एवं अनन्तत्व की प्राप्ति को व्यतिरेक कर जब धर्म साधना है तब धर्मसाधना प्रत्येक जीव के लिए ही अवश्य करणीय है। अनुन्नत मानसिकता के कारण मनुष्येतर जीव धर्म-साधना नहीं कर पाता है, किन्तु मनुष्य तो कर सकता है अतः जो मनुष्य ऐसा नहीं करते हैं, वे मनुष्य पदवाच्य नहीं हैं।

२/८ विषये पुरुषावभासः जीवात्मा।

Vis'aye purus'avabha'sahjiiva'tma'.

भावार्थ :—परमार्थिक विचार से आत्मा एक ही है। व्यक्त (जीव जन्तु लतागुल्म में) अथवा अव्यक्त (जैसे मृत्तिका, लोहे में) जिस अवस्था में ही मन क्यों न हो उसके ऊपर और उसके विषय जड़वस्तु के ऊपर उस आत्मा का ही प्रतिफलन होता रहता है। मन के ऊपर आत्मा का जो प्रतिफलन है उस प्रतिफलन को जीवात्मा कहा जाता हैं और उस दिश

के प्रतिफलक आत्मा को परमात्मा प्रत्यगात्मा (प्रतीपः विपरीतः अञ्चति विजाति इति प्रत्यक)। इस प्रतिफलित आत्मा या जीवात्मा को अणु-चैतन्य भी कहा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार से परमात्मा को भूमा-चैतन्य कह सकते हैं अणु की समष्टि में ही भूमा है, यह बात एक तरह से सत्य भी हैं चुंकि प्रत्येक मानसपट या जड़सत्ता अपने अपने सामर्थ्यानुसार परमात्या को धारण क्रिये चल रहा है। उनके उस सामर्थ्य की समष्टि ही भूमामानस का सामर्थ्य है। परमात्मा भूमा-मानस के ज्ञातृसत्ता हैं, इसीलिए परमात्मा भूमा-चैतन्य हैं।

२/९ आत्मनि सत्तासंस्थितिः।

A'tmani satta' sam'sthitih.

भावार्थ :—जड़ की सत्ता चित्ताधार में है। चित्त का आधार कर्त्तृत्वाभिमान में है, स्वामित्वाभिमान में है अर्थात् अहंतत्व में है। कतृत्व के अभिमान या स्वामित्व के अभिमान का आधार अस्तित्वबोध में है ("मै हूं" में या महत्तत्व में) में है, यह सत्ता-ज्ञान, अर्थात् म जानता हूँ कि मैं हूँ, यह ज्ञातृत्व नहीं रहने से मैं हूँ या मेरे अस्तित्वबोध का विपर्यस्त दिखाई देता है। इसीलिए सब के मूल में मैं जानता हूँ, रह जाता है। उसके बाद द्वितीय सत्ता के रूप में "मैं हूँ रहता है। इस "मैं जानता हूँ" का जो "मैं" है वह ही आत्मा है। अतः सारा सत्ता-बोध आत्मा के ऊपर निर्भरशील है।

२/१० ओतः प्रोतः योगाभ्यां संयुक्तः पुरुषोत्तमः।
Otah protah yoga'bhya'm Sam'yuktah purus'ottamah.

भावार्थ—विश्व के प्राणकेन्द्र में पुरुषोत्तम प्रत्यक्षभाव से प्रत्येक व्यष्टि सत्ता के साक्षी तथा व्यष्टि सत्ता के साथ संयुक्त हैं। उनके इसी संयुक्त भाव को ओतयोग कहा गया है। पुरुषोत्तम प्रत्यक्ष भाव से विश्व की समष्टि सत्ता तथा समष्टि मानस के भी साक्षी हैं। समष्टि के साथ उनकी इस संयुक्ति को प्रोतयोग कहा जाता है; अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जो साथ ही साथ ओत-प्रोत योग द्वारा अपने विषयों में संयुक्त हैं, वहीं पुरुषोत्तम हैं।

२/११ मानसातीते अनवस्थायां जगद बीजम्।
Ma'nasa'tiite anavastha'ya'm jagadbiijam.

भावार्थ :—सृष्ट वस्तुएँ काय-कारण तत्व (Cause and effect) के अनुसार चलती हैं। प्रतिसंचर धारा में कार्यों के कारण ढूँढ़ते ढूँढ़ते हम पञ्चभूत की ओर पहुँच जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सञ्चरधारा में कार्यों के कारण खोजते हुये हम वृहत् के 'महत्' में पहुँच जाते हैं। महत् के ऊपर मन का अधिकार नहीं रहने से मन के लिये वह मानसातीत अवस्था है। इस मानसातीत अवस्था में कार्यकारण तत्व निरुपण करना मन के लिये सम्भव नहीं है। इस तरह से तो अनवस्था दोष हो जाता है; अर्थात् जिस अवस्था में मन का अस्तित्व विपर्यस्त हो जाता है, उस अवस्था में मन है, ऐसा मानना दोष

है। इसीलिए सृष्टि कब उत्पन्न हुई थी, क्यों उत्पन्न हुई थी, यह प्रश्न अवान्तर है।

२/१२ सगुणात् सृष्टिरुत्पत्तिः।

Sagun'a't srs'tirutpattih.

भावार्थ :—सृष्ट जगत् जब गुणाधिगत रहता है, तब यह कहना ठीक ही है कि जगत् की उत्पत्ति सगुण ब्रह्म से हुई है, निर्गुण से नहीं।

२/१३ पुरुषदेहे जगदाभासः।

Purus'adehe jagda'bha'sah.

भावार्थः—जगत् में व्यक्त या अव्यक्त जो कुछ भी है सब कुछ ब्राह्मी देह में आभासित है। ब्रह्म के बाहर कोई भी वस्तु नहीं है, कुछ भी नहीं है, ब्रह्म से बाहर नाम की कोई वस्तु ही नहीं है।

२/१४ ब्रह्म सत्यं जगदपि सत्यमापेक्षिकम्।

Brahma satyam' jagadapi satyama'peks'ikam.

भावार्थ :—ब्रह्म सत्य अर्थात् अपरिणामी है; किन्तु आपातः दृष्टि से ब्रह्मदेह में जो परिणाम देखा जाता है वह प्रकृति के प्रभाव से देश, काल और पात्र इन तीनों (three fundamental relative factors) में ही देखा जाता है, उसको हम गलत नहीं कह सकते हैं और शाश्वत सत्य भी नहीं कह सकते हैं। उसको हम आपेक्षिक सत्य कह सकते हैं; क्योंकि देश, काल, पात्र इस त्रिदण्ड की आपेक्षिता के ऊपर उनका आपातः परिणाम

निर्भर करता है। व्यष्टि सत्ता या व्यष्टि मानस भी अपनी वहमानता तथा धारा में इसी त्रिदण्ड से परामृष्ट है। इसीलिए उसकी सत्ता भी आपेक्षिक है। एक आपेक्षिक सत्ता के निकट दूसरी आपेक्षिक सत्ता परमार्थिक सत्यरूप में प्रतीयमान होती है। इसीलिए परिणामयुक्त जीव के पास परिणामयुक्त जगत् भी सत्यरूप में दिखलाई देता है।

२/१५ पुरुषः अकर्त्ता फलसाक्षीभूतः भावकेन्द्र स्थितः गुणयन्त्रकश्च।

Purus′ah akarta′ falsa′ks′iibhu′tah bha′vakendrasthitah gun′ayantrakashca.

भावार्थ :—सर्वसत्ताओं के प्राणकेन्द्र में पुरुष तत्व की अवस्थिति है—यह बात व्यष्टि तथा समष्टि उभय पक्ष के लिए ही सत्य है। समष्टि केन्द्र में स्थित पुरुष ही पुरुषोत्तम हैं, पुरुष अकर्ता हैं, चूँकि गुण प्रवाह के कारण वस्तु देह में जब क्रिया शक्ति उद्भूत होती हैं तब उस क्रियाशक्ति को जो नियन्त्रण किये रहते हैं उसे कर्ता कहा जाता हैं, पुरुष अकर्ता है चूंकि वे इस प्रकार की क्रियाशक्ति का नियन्त्रण नहीं करते हैं, वरन् जिस गुण समूह के द्वारा क्रियाशक्ति उद्भूत होती है, पुरुष उस गुण केन्द्र में अवस्थित रहकर गुण का नियन्त्रण करते हैं, इसीलिए नियन्ता पुरुष या पुरुषोत्तम गुणाधीन नहीं हैं—वे गुणाधीश हैं।

२/१६ अकर्त्री विषयसंयुक्ता बुद्धिः महद्वा ।

Akartrii vis'ayasam'yukta' buddhih mahadva'.

भावार्थ—बुद्धितत्व या महतत्व कुछ भी काम नहीं करता है, किन्तु विषय के साथ वह संयुक्त रहता है ।

२/१७ अहं कर्त्ता प्रत्यक्षफलभोक्ता ।

Aham'karta'pratyks'aphalabhokta'.

भावार्थ :—अहंतत्व ही सचमुच कर्म का कर्ता है एवं कर्म-फल भी वही भोग करता है ।

२/१८ कर्मफलं चित्तम् ।

Karmaphalam' cittam.

भावार्थ :—जीव का चित्त ही कर्म का फलरूप ग्रहण करता है ।

२/१९ विकृतचित्तस्य पूर्वावस्था प्राप्तिः फलभोगः ।

Vikrtacittasya pu'rva'vastha'pra'ptih phalabhogah.

भावार्थ :—कर्म का अर्थ होता है चित्त की अवस्थान्तर प्राप्ति । इस अवस्थान्तर प्राप्ति को यदि विकृति कहा जाय तो उसके बाद चित्त की पूर्वावस्था प्राप्ति को जो प्रक्रिया है उसे कर्मफल भोग कहना होगा ।

२/२० न स्वर्गो न रसातलः ।

Na svargo na rasa'talah.

भावार्थ :—स्वर्ग और नरक नामक कोई भी वस्तु नहीं है । जब मनुष्य सत् कर्म करता है या सत् कर्म का फल-

भोग करता है तब उसके लिए यह जो परिवेश होता है वह स्वर्गनाम से अभिहित होता है, और जब वह कुकर्म करता है या उसका फलभोग करता है, तब उसके लिए जो परिवेश होता है वह नरक रूप से प्रतिभात होता है।

२/२१ भूमाचित्ते सञ्चरधारायां जड़ाभासः।

Bhu'ma'citte saincaradha'ra'ya'm' jad'a'bha'sah.

भावार्थ :—ब्राह्मी चित्त के ऊपर तमोगुणी प्रकृति के अधिकतर प्रभाव के कारण आकाश तत्व की सृष्टि होती है। आकाश-तत्व के ऊपर तमोगुणी प्रभाव के कारण मरुत्तत्व की सृष्टि होती है। इसी तरह मरुत्तत्व से तेजस्तत्व, तेजस्तत्व से अपतत्व तथा अपतत्व से क्षितितत्व उदभूत होते है। यह आकाश, मरुत्, तेजः अप तथा क्षितितत्व पञ्च महाभूत के नाम से ख्यात है, चूँकि जगत् के अन्यान्य भूत या सृष्ट वस्तुयें इन्हीं से उत्पन्न होती हैं।

२/२२ भूतलक्षणात्मकं भूतवाहितं भूतसंघर्ष
स्पन्दनं तन्मात्रम्।

Bhu'talaks'an'a'tmakam' Bhu'tava'hitam'
Bhu'tasam'ghars'a spandanam' tanma'tram.

भावार्थ :—आभ्यन्तरीण तथा बहिस्थ के चाप के कारण भूतदेह में जो आलोड़न उपस्थित होता है वह तरंगाकार में तदपेक्षा सूक्ष्मतर भूतदेह के माध्यम से प्रवाहित होकर जीव-देह में विभिन्न इन्द्रियद्वार में उपस्थित होता है। इन्द्रियद्वार

से विभिन्न नाड़ियों को मदद से अथवा उसके अभ्यन्तर में प्रवाहित रस की मदद से वह तरंग मस्तिष्क के विशेष-विशेष भावग्राही विन्दु में उपनीत होता है। इसके बाद उस तरंगानुयायी चित्तस्पन्दन-उत्पादनकारी वहिस्थभूत का आकार प्राप्त करता है। यह भावग्राही तरंग बहिस्थ भूत के शब्द-स्पर्श-रूप रस अथवा गन्ध के साथ चित्त को संयुक्त कराती है। इस प्रकार के तरंग समूहों को, इसीलिए तन्मात्र नाम से अभिहित किया जाता है।

२/२३ भूतं तन्मात्रेण परिचीयते।

Bhutam′ tanma′trena′ pariciiyate.

भावार्थ :—कौन वस्तु किस महाभूत के अन्तर्भुक्त है यह तत्सृष्ट तन्मात्र के द्वारा निरूपित किया जाता है। आकाश-भूत में "शब्द" तन्मात्र वहन करने का सामर्थ्य है, मरुत में "शब्द" और "स्पर्श", तेजस् में "शब्द", "स्पर्श" तथा "रूप", अप में "शब्द", "स्पर्श", "रूप", तथा "रस" और क्षिति में "शब्द", "स्पर्श", "रूप", "रस" तथा "गन्ध" पाँचों ही तन्मात्र वहन करने का सामर्थ्य हैं। कौन वस्तु किस भूत के अन्तर्भुक्त है इसे निर्धारित करने पर सर्वापेक्षा स्थूल कौन सा तन्मात्र को वह, वहन कर सकती है उसी के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, तथा त्वक् इन पंच ज्ञानेन्द्रियों का काम वहिःस्थ भूतसमूह

से तन्मात्र ग्रहण करना है। संज्ञा की मदद से वाक् पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ इन पंच कर्मेन्द्रियों का काम आभ्यन्तरीण तन्मात्र को बाहर उत्सारित करना है तथा प्राणेन्द्रिय का काम वस्तु भाव के संग चित्त-भाव को संयुक्त करना है तथा लघुता, गुरुता उष्णता, शीतलता का बोध चित्त में सृष्ट करना है।

२/२४ द्वारः नाड़ीरसः पीठात्माकानि इन्द्रियानि।

Dva'rah nad''iirasah piith'a'tmaka'ni indriya'n'i.

भावार्थ :—इन्द्रिय-द्वार अर्थात् जीवदेह के जिस द्वार में तन्मात्र पहले पहल वस्तुभाव को बहाकर ले जाता है, वह नाड़ी या स्नायुतन्तु जो तन्मात्र की तरंग से तरंगायित होती है, नाड़ीस्थ रस, जो तन्मात्रिक स्पन्दन से स्फुटित होता है, एवं स्नायु-कोष के जिस विन्दु में तन्मात्र तरंग चित्त से संयुक्त होती है, इनका सामूहिक नाम इन्द्रिय है। अर्थात् लौकिक विचार से हमलोग जिसे चक्षु कहते हैं, उस चक्षु के पीछे जो क्रियाशील चक्षु-नाड़ी (optical nerve) हैं, चाक्षुस-पित्त (optical fiuid) है, चाक्षुसरस एवं स्नायुकोष का चक्षु-विन्दु या पीठ है, इन सबों का सामवायिक नाम चक्षुरिन्द्रिय है।

———

तृतीयोऽध्यायः

३/१ पञ्चकोषात्मिका जैवीसत्ता कदलीपुष्पवत् ।

Paincakos'a'tmika' jaeviisatta' Kadaliipus'pavat.

भावार्थ :—प्रतिसंचरधारा में चित्त सृष्ट हो जाने के बाद ही धीरे-धीरे मन का व्यापक विकाश होता रहता है । इस विकाश धारा में अणुदेह का स्थूलतम कोष "काममय" कोष उससे भी सूक्ष्म "मनोमय" कोष, उससे भी सूक्ष्म "अतिमानस" कोष, उससे भी सूक्ष्म "विज्ञानमय" कोष तथा उससे भी सूक्ष्म "हिरणमय" कोष होता है । अणु का स्थूल आधार "अन्नमय" कोष सञ्चरधारा की सम्पत्ति है। काममय कोष को स्थूल मन, मनोमय को सूक्ष्म मन एवं अतिमानस, विज्ञानमय तथा हिरणमय इन तीनों कोषों को कारणमन भी कहा जाता है। स्थूल मन के साथी पुरुष को प्राज्ञ, सूक्ष्म मन के साथी पुरुष को विश्व कहा जाता है। जैवी सत्ता के स्थूल आधार सञ्चर-स्थित अन्नमय कोष की स्थूल देह में काममय से हिरणमय कोष तक पञ्च कोष को सूक्ष्म देह एवं महतत्व तथा अहंतत्व को सामान्य देह कहा जाता है। कदली पुष्प (केला का फूल) के ऐसा इन कोष समूहों में भी तथा स्थूल को हटा देने पर ही सूक्ष्म को समझा जा सकता है ।

३/२ सप्तलोकात्मकं ब्रह्ममनः।

Saptaloka′tmakam′ Brahmamanah.

भाभार्थ :—ब्रह्ममन भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य ये सात लोक में विधृत है। ब्राह्मी महत्तत्व तथा अहंतत्व जिसका साक्षी सत्ता केवल पुरुषोत्तम नाम से ही ख्यात हैं वह ही सत्यलोक है। उसे ब्रह्म का कारण देह भी कहा जाता है। ब्रह्म के हिरण्मय कोष के ज्ञातृ पुरुष को विराट या वैश्वानर कहा जाता है। एवं संश्लिष्ट लोक को तपःलोक कहा जाता है। ब्रह्म के विज्ञानमय कोष के साक्षी पुरुष को भी एक ही नाम से अभिहित किया जाता है तथा इस लोक को जनर्लोक कहा जाता है। ब्रह्म के अतिमानस कोष के साक्षी पुरुष को भी एक ही नाम से अभिहित किया जाता है तथा इस लोक को महर्लोक कहा जाता है। इन तीनों कोषों का मिलित नाम ब्रह्म का कारण मन अथवा ब्रह्म को सूक्ष्म देह भी है। ब्रह्म के मनोमय कोष को उनका सूक्ष्म मन कहा जाता है, एवं साक्षी पुरुष को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। यह भी ब्रह्म को सूक्ष्मदेह के अन्तर्भुक्त है, एवं इसके संश्लिष्ट लोक को स्वर्लोक कहा जाता है। ब्रह्म के काममय कोष को उनका स्थूल मन, मन भी कहा जाता है, एवं इसके साक्षी पुरुष को ईश्वर कहा जाता है। इसे ब्रह्म की स्थूल देह भी कहा जा सकता है। व्यक्तीकरण के सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व

के अनुसार इस कोष को आंशिक भाव से भूवः तथा आंशिक भाव से भूर्लोक की ख्याति दी जाती है।

३/३ कारणमनसि दीर्घनिद्रा मरणम्।

Ka'ran'amanasi diirghanidra' maran'am.

भावार्थ :—जाग्रद्वस्था में स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों ही मन क्रियाशील रहते हैं। स्वप्नावस्था में केवल स्थूल मन निन्द्रितावस्था में रहता है, और शेष दोनों मन ही क्रियाशील रहते हैं। निद्रितावस्था में स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही मन निष्क्रिय रहते हैं, केवल कारण मन जगा रहता है एवं वही शेष दोनों मनों का काम करता जाता है। शरीर तरंग के संग मानस तरंग को जब समानान्तरालता विच्छेद हो जाती है तब कारण मन भी निष्क्रिय हो जाता है। इस अवस्था को मृत्यु कहा जाता है।

३/४ मनोविकृतिः विपाकापेक्षिता संस्कारः

Manovikrtih Vipa'ka'peks'ita' Sam'ska'rah.

भावार्थ :—सत् या असत् जो भी कार्य क्यों न किया जाय इसके कारण एक प्रकार की मानसिक विकृति उत्पन्न होती हैं। विपाक अर्थात कर्मफलभोग के द्वारा मन पुनः स्वाभाविक अवस्था में लौट आता है। इस क्षेत्र में कर्म तो किया जाता है, किन्तु फलभोग होता नहीं है, अर्थात् विपाक अपेक्षित रह जाता है, इस अपेक्षित विपाक का नाम संस्कार (reaction in its potentiality) है।

मृत्युकाल में कारण मन में जिस प्रकार का संस्कार रह जाता है, विपाक के द्वारा उस प्रकार के संस्कार भोग के लिए प्रकृति, उस विदेही मन को, विभिन्न जीवों के गर्भ में संस्कार अनुयायी मानस तरंग के संग समान्तरालता युक्त जैवी देह से संयुक्त करा देती है।

३/५ विदेहीमानसे न कर्तृत्वं न सुखानि न दुःखानि।

Videhiima'nase na kartrtvam' na sukha'ni na dukha'ni.

भावार्थ :—देह से मन को वियुक्ति होने के वाद; अर्थात् मृत्यु के बाद जीवों में सुख वा दुख बोध हो नहीं सकता है क्योंकि सुख या दुख वोध के लिए स्नायु कोष (मस्तिष्क या nerve cell) एवं आंशिक भाव में स्नायुतन्तु (nervefibre) का प्रयोजन है। अतः ऐसा जो कहा जाता है कि विदेही आत्मा अमुक कार्य करने से सुखी होंगे, अमुक कार्य करने से दुःखी होंगे अथवा प्रतिहिंसा वृत्ति को चरितार्थ करेंगे, ये सभी बातें सम्पूर्ण रुपेण त्रुटिपूर्ण हैं।

३/६ अभिभावनात् चित्ताणुसृष्टप्रेतदर्शनम्।

Abhibha'vana't citta'n'usrs'ta pretadarsha'nam.

भावार्थ :—वास्तव में भूत-प्रेत नामक कोई भी वस्तु नहीं है। भीतक्रुद्ध अथवा मोहग्रस्त अवस्था में मनुष्यों के बीच जब सामयिक एकाग्रता आती है तब उसका ही चित्ताणुपुंज भावित

विषय का रूपपरिग्रह करता है। इस अवस्था में वह अपने मन को भावना को बाहर में भी प्रत्यक्ष रूप से देखता है, निर्जन स्थान में भी प्रेत देखता है। मन को बाहर में देखने का नामकरण धनात्मक भ्रान्ति-दर्शन (positive hallucination) कहा जा सकता है। अनुरूप भाव से मन की भावना बाहर की वस्तु नहीं है, ऐसा प्रतीत होने पर इसे ऋणात्मक भ्रान्ति-दर्शन (negative hallucination) कहा जा सकता है। जो कहते हैं कि मैंने भूत देखा है, वे मिथ्या नहीं कहते हैं—उनके मन की भ्रान्ति चाक्षुस हो बैठती है।

अभिभावन सम्पूर्ण रूपेण आभ्यन्तरीण होने पर यदाकदा अपनी सत्ता में भी प्रेत-भ्रम हो सकता है। उस समय वह व्यक्ति हो ऐसा आचरण करता है जिसे देखकर बाहर के लोग कह सकते हैं कि अमुक के शरीर में प्रेत भरते हुए मैंने देखा है। देव-देवियों का भरना भी ठीक इसी प्रकार की बातें हैं।

३/७ हितैषणा प्रेषितोऽपवर्गः।

Hitaes'an'a' pres'ito'pavargah.

भावार्थ :—कर्म-समाप्ति के बाद जो फल होता है, उसके पश्चात् भी ब्रह्म की हितैषणा हो रहती है। अन्याय कर्म को शास्ति मनुष्य को अन्याय कर्म से दूर रहने की शिक्षा देती है, सत् कर्म का शुभफल मनुष्य को शिक्षा देता है कि असत्

कर्म करने से इस प्रकार का शुभ फल और पाया नहीं जा सकता है।

३/८ मुक्त्याकाङ्क्षया सद्गुरुप्राप्तिः।

Muktya'ka'unks'aya' sadgurupra'ptih.

भावार्थ :—मनुष्य में जब मुक्ति पाने की आकांक्षा उग्रभाव से उदित होती है, तब उस आकांक्षा की शक्ति से ही सद्गुरु मिल जाते हैं।

३/९ ब्रह्मैव गुरुरेकः नापरः।

Brahmaeva gururekah na'parah.

भावार्थ :—एकमात्र ब्रह्म ही गुरु हैं। वे ही विभिन्न आधार के माध्यम से जीव को मुक्ति-पथ का सन्धान लगा देते हैं। ब्रह्म के व्यतिरेक और कोई भी गुरु पदवाच्य नहीं हैं।

३/१० बाधा सा युषमानाशक्तिः सेव्यं स्थापयति लक्ष्ये।

Va'dha' sa' yus'ama'na'shaktih sevyam'
stha'payati laks'ye.

भावार्थ :—साधना-मार्ग में बाधा प्रकृत पक्ष में मनुष्य का शत्रु नहीं वरन मित्र है—वह मनुष्य का सेवक है। बाधा के फल से बाधा के विरुद्ध संग्राम चलता है और उसकी चेष्टा ही साधक को लक्ष्य की प्राप्ति करा देती है।

३/११ प्रार्थनार्चनामात्रैव भ्रममूलम् ।

Pra'rthana'rcana'ma'traeva bhramamu'lam.

भावार्थ :—ईश्वर के निकट प्रार्थना करना बेकार है, क्योंकि जिसे जिस चीज की आवश्यकता है वे उसे तो वह देंगे, अर्चना खुशामद् करना छोड़ और कुछ नहीं है ।

३/१२ भक्तिर्भगवद्भावना न स्तुतिर्नार्चना ।

Bhaktirbhagavadbha'va'na' na stutirna'rcana'.

भावार्थ :—एकनिष्ठाभाव से भगवान की भावना लेने का नाम ही भक्ति है। भगवान की स्तुति गाना या विभिन्न उपचार से अर्चना करने के साथ, भक्ति सम्बन्धित नहीं है ; तो भी भक्त की इच्छा होने पर वे ऐसा कर सकते हैं। किन्तु वह भक्ति साधना का अत्यावश्यक अंश नहीं है ।

चतुर्थोऽध्यायः

४/१ त्रिगुणात्मिका सृष्टिमातृका अशेषत्रिकोणधारा

Trigun'a'tmika' srs'tima'trka' ashes'atrikon'adha'ra'.

भावार्थ :—परम पुरुष से सत्व, रजः, और तम की विभिन्न धारायें अजस्र रेखाकार तरंग में बह चली हैं। सत्व, रजः और तमः यह त्रिगुणात्मक तरंगधाराएँ मिलित होकर त्रिकोण या ततोधिक कोणात्मक विभिन्न यन्त्रों की सृष्टि होती चलती है। बहुभुज यन्त्रसमूह के भी स्वरूप-परिणाम के कारण क्रमशः त्रिकोणयुक्त त्रिभुज में रूपान्तरित होता रहता है। यह त्रिगुणात्मिका मातृकाशक्ति अशेष है।

४/२ त्रिभूजे सा स्वरूपपरिणामात्मिका।

Tribhu'je sa' svaru'pa-parin'a'ma'tmika'.

भावार्थ :—इस त्रिभुज में सत्व, रजः में, रजः तमः में और तमः रजः में, रजः सत्व में सीमाहोनभाव में रुपान्तर होता रहता है। उनके इस रुपान्तरणको स्वरूप-परिणाम कहा जाता है।

४/३ प्रथमा अव्यक्ते सा शिवानी केन्द्रे च परमशिवः।

Prathama'avyakte sa' shiva'nii kendre ca paramashivah.

भावार्थ :—इन त्रिभुज समूह का मध्यविन्दु समूह जिस सूत्र से ग्रथित है, वह सूत्र हो पुरुषोत्तम या परम शिव है। ये

त्रिभुज जबतक शक्तिरुद्‌भिन्नता के कारण भारसाम्य नहीं खो बैठता है तब तक उसको त्रिकोणाधार की प्रथमावस्था कह सकते हैं। यह प्रथमावस्था ही प्राक् सृष्टि की अवस्था है। अतः यह सम्पूर्णतः सैद्धान्तिक अवस्था है। इस अवस्था की आधार स्रष्ट्री प्रकृति शिवानी या कौषिकी शक्ति के नाम से ख्यात है, और उसके साक्षी-पुरुष शिव के नाम से आख्यात हैं।

४/४ द्वितीयासकले प्रथमोद्‌गमे भैरवी भैरवाश्रिता।
Dvitiiya'sakale prathamodgame bhaeravii bhaerava'shrita'.

भावार्थ :—त्रिभुज का भारसाम्य नष्ट हो जाने पर किसी एक कोण से सृष्टि का अंकुर निर्गत होता है एवं वह गुणभेद से सरलरेखाकार में अग्रसर होता रहता है। यह अवस्था प्रकृत पक्ष में व्यक्त पुरुष और व्यक्ता प्रकृति की अवस्था है। पुरुष जहाँ पर सगुण का कारण है, प्रकृति वहाँ पर स्वयं व्यक्त करने का सुयोग पाती है। यह अवस्था स्रष्ट्री प्रकृति की भैरवी-शक्ति के नाम से ख्याता है एवं साक्षी पुरुष का नाम भैरव है।

४/५ सदृशपरिणामेन भवानी सा भवदारा।
Sadrshaparin'a'mena bhava'nii sa' bhavada'ra'.

भावार्थ :—इसके बाद शक्तिप्रवाह के आभ्यन्तरीण संघर्ष के कारण वक्रता दिखाई देती है, पुरुषभाव की गम्भीरता भी ह्रास होती रहती है। इस अवस्था में ही प्रथम कला का

उद्भव होता है। एक कला के अनुरूप द्वितीय कला, द्वितीय कला के अनुरूप तृतीय कला,—इस तरह कलाप्रवाह चलते रहते हैं। इस प्रकार के कलानुवर्त्तन का नाम सदृश्य-परिणाम है। इस सदृश्य परिणामात्मिका तरंग-प्रवाह में ही मानस जगत और भौतिक जगत सृष्ट होते हैं। इस कलानुवर्त्तन के कारण हमलोग मनुष्य की सन्तान मनुष्य हो देखते हैं, वृक्ष की सन्तान वृक्ष देखते हैं। कलायें सदृश हैं किन्तु हूबहू एक नहीं है। इसीलिए एक के बाद एक कला का पार्थक्य सम्यग् रूप से अनुभूत नहीं होने पर जिन सभी कलाओं का पारस्परिक दूरत्व अधिक है उनका पार्थक्य भी दिखाई पड़ता है। जिसे हमेशा देखा जाता है उसका शारीरिक परिवर्त्तन नहीं समझने पर भी पाँच वर्ष की उम्र के किसी शिशु को बीस वर्ष के बाद पचीस वर्ष के युवक के रूप में देखने के बाद पार्थक्य अवश्य ही समझ में आता है। मनुष्य की सन्तान मनुष्य होने पर भी दश लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य और आज के मनुष्य में अनेक अन्तर है। प्रकृतपक्ष में व्यक्त जगत् की स्रष्ट्री यह कलात्मिका शक्ति है। इसे भवानीशक्ति कहा जाता है और इसके साक्षी पुरुष को भव। भव शब्द का अर्थ सृष्टि है।

४/६ शम्भूलिङ्गात् तस्य व्यक्तिः।

Shambhu'linga't tasya vyaktih.

भावार्थ :—त्रिकोणाधार के जिस विन्दु से प्रथम भैरवी का स्फुरण है वस्तुतः उसी समय में सृष्टि का सैद्धान्तिक से व्यावहारिक

विकाश है। सिद्धान्त और व्यवहार में यह जो सामान्यविन्दु है उसे शम्भूलिंग कहा जाता है। वस्तुतः यह शम्भूलिंग ही सकल धनात्मिकता का मूल विन्दु (fundamental positivity) है। इस प्रारम्भिक विन्दु के बाद नाद तथा उसके बाद कला का उद्भव है।

४/७ स्थूलीभवने निद्रिता सा कुण्डलिनी।
Sthu'liibhavane nidrita' sa' kun'd'alinii.

भावार्थ :—व्यक्तीकरण की शेषविन्दु भवानीशक्ति का शष प्रान्त है इसलिए शक्ति विकाश की वह चरमतम अवस्था—चरम जड़ावस्था है। इस जड़भाव में निद्रिता पराशक्ति जीवभाव की आख्या लिए हुए सुषुप्तावस्था में रहती है उसका ही नाम कुल-कुण्डलिनी है।

४/८—कुण्डलिनी सा मूलीभूता ऋणात्मिका।
Kun'd'alinii sa' mu'liibhu'ta rn'a'tmika'.

भावार्थ :—विकास के शेष विन्दु को स्वयंभूलिंग कहा जाता है। यह स्वयंभूलिंग हो परम ऋणात्मक विन्दु है, और तदाश्रित कुण्डलाकारा जो प्रसुप्तशक्ति है वह कुण्डलिनो शक्ति है। शम्भू-लिंग यदि परम धनात्मक भाव हो तो स्वयंभूलिंग में आश्रिता कुण्डलिनी को परम ऋणात्मिकाशक्ति कह सकते हैं।

———

पञ्चमोऽध्यायः

५/१ वर्णप्रधानता चक्रधारायाम् ।

Varn'apradha'nata' cakradha'ra'ya'm.

भावार्थ :—आदि काल में सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित समाज नहीं था । उस काल को शुद्र—युग कहा जा सकता है । तब सभी श्रमजीवो थे । इसके बाद साहसी एवं शक्तिशाली सरदारों का युग आया जिसे क्षात्र-युग कहा गया । तत्पश्चात बुद्धिजीवियों का युग अर्थात् विप्र युग और सबके अन्त में वैश्य-युग—व्यवसायियों का युग—आया । वैश्य युग के शोषण के फलस्वरूप विप्र एवं क्षत्रिय जब शूद्रत्व में पर्यवसित होते हैं, तब शूद्र विप्लव के विस्फोट की आशंका प्रति क्षण बढ़ती जाती है। यदि दमन और शोषण का चक्र अबाध चलता रहा ; तो भयंकर शूद्र-विप्लव दावाग्नि के समान समाज-कानून को भस्मसात् कर प्राचीन मान्यताओं एवं सभ्यता और संस्कृति के अवशेष पर नये समाज की परि-कल्पना करता है। लेकिन शुद्रों का न तो कोई दृढ़—निबद्ध समाज है और न उर्वर बुद्धि । फलतः विप्लव के बाद समाज का शासन उनके द्वारा नहीं होता । इस विप्लव में जो उनका नेतृत्व करते हैं, वैश्योत्तर युग में शासन—व्यवस्था उन्हीं के हाथों में आती है। ये वीर और

साहसी नेता, द्वितीय बार फिर क्षात्रयुग के आगमन की सूचना देते हैं। शूद्र-युग, क्षत्रिय युग, वैश्य युग, विप्र युग तत्पश्चात् विप्लव और उसके बाद फिर वही परिक्रमा चलती रहती है। समाज का यह चक्र इसी तरह घूमता रहता है।

५/२ चक्रकेन्द्रे सद्विप्राः चक्रनियन्त्रकाः।

Cakrakendre sadvipra'h cakraniyantraka'h.

भावार्थ :—जो नीतिवादी आध्यात्मिक साधक अपने शक्ति-सम्प्रयोग द्वारा पाप का दमन करना चाहते है, वे ही सद्विप्र हैं। चक्र की परिधि में इनका स्थान नहीं है, क्योंकि ये चक्र की धूरी या प्राण केन्द्र के रूप में अधिष्ठित रहेंगे। चक्र ठीक ही चलता रहेगा, किन्तु यदि क्षत्रिय युग में क्षत्रिय शासक के बदले प्रधानतः शोषक बन जाय, विप्र युग में विप्र और वैश्य युग में वैश्य जन-साधारण का शोषण करने लगे ; उस दशा में शक्ति-सम्प्रयोग द्वारा सत् और शोषित जनों की रक्षा तथा असत् और शोषकों का दमन करना इन्हीं सद्विप्रों का धर्म है।

५/३ शक्तिसम्पातेन चक्रगतिवर्धनं क्रान्तिः।

Shaktisampa'tena cakragativardhanam' kra'ntih.

भावार्थ :—जहाँ क्षत्रिय शोषक बन जाते हैं, वहाँ सद्विप्र क्षत्रियों का दमन कर विप्रयुग को प्रतिष्ठा करेंगे। स्वाभाविक रूप से जिस समय विप्र युग आना चाहिये ; उस समय के आगमन

की गति को, शक्ति सम्प्रयोग द्वारा ये सद् विप्र कुछ त्वरित कर देते हैं। इस तरह का युग परिवर्तन क्रान्ति (Evolution) कहा जायगा। स्वाभाविक परिवर्तन (Natural change) से क्रान्ति में एक मात्र यही अंतर है कि इसमें शक्ति सम्प्रयोग द्वारा चक्र की गति बढ़ जाती है।

५/४ तीव्रशक्तिसम्पातेन गतिवर्धनं विप्लवः ॥

Tiivrashaktisampa´tena gativardhanam´ viplavah.

भावार्थ :—अल्पकाल में यदि किसी विशेष युग को हटाकर परवर्त्ती युग के कठोर बन्धन को ध्वस्त करने के लिए यदि अत्यधिक शक्ति-सम्प्रयोग की आवश्यकता हो, तो वैसी दशा में तत्संक्रान्त परिवर्तन को विप्लव (revolution) कहा जाता है।

५/५ शक्तिसम्पातेन विपरीतधारायां विक्रान्तिः।

Shaktisampa´tena vipariitadha´ra´ya´m vikra´ntih.

भावार्थ :—शक्ति-सम्प्रयोग द्वारा यदि किसी एक युग को उसके पीछे वाले युग की ओर ले जाया जाय, वैसी दशा में उस परिवर्तन को विक्रान्ति (Counter revolution) कहा जाता है। विप्र युग के बाद क्षत्रिय युग की स्थापना को विक्रान्ति कहेंगे। यह विक्रान्ति अत्यन्त अल्प स्थायी होती है ; अर्थात् अल्प काल के वाद ही फिर उसके बाद का युग अथवा उस युग के बाद का युग आ जाता है। यदि विप्र युग के बाद हठात् क्षत्रिय युग की विक्रान्ति हो जाय, वैसी हालत में वह क्षत्रिय युग दीर्घस्थायी नहीं

रह सकेगा। अल्पकाल के बाद ही विप्रयुग अथवा स्वाभाविक गतिधारा के अनुसार फिर वैश्य युग आ जायगा।

५/६ तीव्रशक्तिसम्पातेन विपरीतधारायां प्रतिविप्लवः ॥

Tiivrashaktisampa'tena vipariitadha'ra'ya'm' prativiplavah.

भावार्थ :—अन्यन्त अल्पकाल में अनुरूप भाव से अथवा अधिक शक्ति-सम्प्रयोग द्वारा यदि किसी युग को पीछे ढकेल दिया जाय ; तो उसे प्रतिविप्लव (Counter-revolution) कहेंगे। विक्रान्ति की तुलना में प्रतिविप्लव और भी क्षणस्थायी है।

५/७ पूर्णावर्त्तनेन परिक्रान्तिः।

Pu'rn'a'vart anen parikra'ntih.

भावार्थ :—समाज चक्र एक बार पूर्ण रूप से घूम जाने पर अथवा एक बार शूद्र विप्लव होने पर समाज चक्र को परिक्रान्ति कहेंगे !

५/८ वैचित्र्यं प्राकृतधर्मः समानं न भविष्यति ॥

Vaecitryam' pra'krtadharmah sama'nam'na bhavis'yati.

भावार्थ :—विचित्रता ही प्रकृति का धर्म है। सृष्ट जगत् की कोई भी दो वस्तुएँ तादात्म्य रूप से एक समान नहीं होतीं—दो शरीर एक नहीं हैं, दो मन एक नहीं हैं, दो अणु या परमाणु भी एक नहीं हैं। यह विचित्रता ही प्रकृति का स्वभाव है।

यदि कोई सब कुछ को समान करना चाहे वैसी दशा में ऐसा करना व्यर्थ होगा, क्योंकि यह प्राकृत धर्म-विरोधी बात है। केवल प्रकृति की अव्यक्त अवस्था में ही सब कुछ समान होते हैं। इस लिए जो सबको समान करने की ही बात करते हैं, वे सबको ध्वंस करने की बात करते हैं।

५/९ युगस्य सर्वनिम्नप्रयोजनं सर्वेषां विधेयम्।

Yugasya sarvanimnaprayojanam' sarves'a'm' vidheyam.

भावार्थ :—हरमें पिता गौरी माता स्वदेश: भुवनत्रयम्। इसी लिए इस विश्व ब्रह्माण्ड को प्रत्येक सम्पदा प्रत्येक मनुष्य की साधारण सम्पत्ति है, किन्तु विश्व की कोई वस्तु सोलह आना समान नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य को जो निम्नतम आवश्यकता है, उसकी व्यवस्था सबों के लिए करनी होगी अर्थात् अन्न, वस्त्र, चिकित्सा, वासगृह, शिक्षा आदि की व्यवस्था सबके लिए करना आवश्यक कर्त्तव्य है। मनुष्य को ये निम्नतम आवश्यकताएँ प्रत्येक युग में बदलती रहती हैं।

सवारी गाड़ी की दृष्टि से किसी युग में मनुष्य की निम्नतम आवश्यकता एक साइकिल हो सकती है और किसी युगमें वायुयान भी हो सकता है। जिसयुग में मनुष्य की जो निम्नतम आवश्यकता होगी, उसकी व्यवस्था अवश्य ही करनी होगी।

५/१० अतिरिक्तं प्रदातव्यं गुणानुपातेन ।

Atiriktam′ prada′tavyam′ gun′a′nupa′tena.

भावार्थ :—युग की निम्नतम् आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो अतिरिक्त सम्पदा बची रहेगी उसे विशेष गुण सम्पन्न व्यक्तियों के बीच गुण के अनुपातके अनुसार बाँट देना होगा। जिस युग में एक साधारण मनुष्य की आवश्यकता एक साइकिल है, उस युग में एक चिकित्सक की आवश्यकता एक मोटर गाड़ी है। गुण के आदर के लिए तथा गुणी को समाज सेवा का अधिकतर सु-अवसर देने के लिए उसे मोटरगाड़ी देनी होगी। Serve according to your capacity and earn according to your necessity—यह बात सुनने में अच्छी तो लगती है किन्तु धरती की कड़ी मिट्टी में इससे फसल नहीं मिलेगी।

५/११ सर्वनिम्नमानवर्धनं समाजजीवलक्षणम् ।

Sarvanimnama′nabardhanam′ sma′jajiivalaks′an′am.

भावार्थ—साधारण मनुष्य की निम्नतम आवश्यकता का जो स्थिरीकृत मान (Accepted standard) है, गुणियों को उससे कुछ अधिक अवश्य ही मिलेगा, किन्तु इस निम्नतम मान (Standard) को ऊपर उठाने की भी अन्तहीन चेष्टा करनी होगी। जब जन-साधारण की आवश्यकता एक साइकिल की होगी और गुणियों की मोटर गाड़ी की, हमें तब चेष्टा करनी

होगी जिससे कि जन-साधारण को भी एक मोटरगाड़ी मिले। प्रत्येक व्यक्ति को एक मोटरगाड़ी देने के बाद, सम्भव है कि देखा जाय कि गुणी जनों के लिये एक वायुयान की आवश्यकता है। गुणीजनों को एक वायुयान देने के बाद निम्नतम मान को ऊपर उठाकर जन साधारण को भी वायुयान देने की चेष्टा करनी होगी। इस तरह निम्नतम मान को भी उठाने की अशेष चेष्टा करनी होगी एवं इसी चेष्टा के ऊपर मनुष्य की जागतिक ऋद्धि निर्भर करेगी।

५/१२ समाजादेशेन विना धनसञ्चयः अकर्तव्यः।

Sama'ja'deshena vina' dhanasaincayah akartavyah.

भावार्थ :—यह विश्व ब्रह्माण्ड सबों की यौथ सम्पत्ति है। इसे भोग करने का अधिकार सभी को है। किन्तु अपव्यय करने का अधिकार किसी को नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अतिरिक्त सम्पदा आहरण एवं संचय करता है, इस दशा में वह प्रत्यक्ष रूप से समाज के अन्य व्यक्तियों की सुख सुविधा को ही खर्च करता है। उसका आचरण प्रत्यक्ष रूप से ही समाज-विरोधी है। इसलिए समाज की अनुमति के सिवा किसी भी व्यक्ति को सम्पद संचय करने का मौका देना उचित नहीं है।

५/१३ स्थूलसूक्ष्मकारणेषु चरमोपयोगः प्रकर्तव्यः
विचार समर्थितं वण्टनञ्च।

Sthu'lasu'ks'maka'ran'es'u caramopayogah prakarta-
vyah Vica'rasamarthitam' vant'anainca.

भावार्थ :—स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत में जो कुछ भी सम्पद विहित है जीवों के कल्याण के लिये उनका उत्कर्ष साधन करना है। क्षिति, अप, तेज, मरुत, व्योम इन पंच तत्वों के अन्दर जहाँ भी जो कुछ छिपी हुई सम्पदएं हैं उनका उत्कर्ष सोलहो आना उनके सद्व्यवहार की प्रचेष्टा द्वारा ही संभव है जल, स्थल अन्तरिक्ष उलट-पुलट करके मनुष्य को अपनी अपनी आवश्यकताओं के उपादानों को खोज-खोज कर ढूँढ़ लेना होगा—बना लेना होगा। मनुष्य द्वारा आहृत सम्पदाओं को विचारपूर्वक मनुष्यमात्र में बांट देना होगा, अर्थात सबों की निम्न आवश्यकताओं की पूर्ति करनी ही है। फिर भी गुणी और विशेष दशा में विशिष्ट व्यक्ति के प्रयोजन को भी ध्यान में रखना होगा।

५/१४ व्यष्टिसमष्टि शारीरमानसाध्यात्मिक
सम्भावनायां चरमोऽपयोगश्च।

Vyas't'isamas't'isha'riira-ma'nasa'dhya'tmika
sambha'vana'ya'm' caramo'payogashca.

भावार्थ :—समष्टि देह का, समष्टि मानस का तथा समष्टिगत आत्मा का विकाश करना होगा। समष्टि का कल्याण व्यष्टि

में और व्यष्टि का कल्याण समष्टि में है। इस बात को भूलने से काम नहीं चलेगा। उपयुक्त खाद्य, प्रकाश, हवा, वास-गृह एवं चिकित्सा द्वारा व्यष्टि देह के खाद्यान्न की व्यवस्था नहीं कर सकने से समष्टि देह का कल्याण हो नहीं सकता है। इसीलिये समष्टि देह की कल्याणकामना के लिये प्रेरित होकर ही व्यष्टि-कल्याण करना होगा। प्रत्येक व्यष्टि में उपयुक्त समाज-बोध, सेवा-बोध तथा ज्ञान जगाने की चेष्टा नहीं करने से समष्टि का भी मानसिक विकास नही हो सकता है। इसीलिए समष्टि-मानस के कल्याण की भावना से उद्‌बुद्ध होकर व्यष्टि मानस का कल्याण करना होगा। व्यष्टि में आध्यात्मिकता तथा आध्यात्मिकता-केन्द्रिक नैतिकता नहीं रहने से समष्टि का मेरुदण्ड टूट जाएगा। इसलिए समष्टि के कल्याण के लिए ही व्यष्टि-व्यष्टि में आध्यात्मिकता की ज्योति जगानी होगी। गिनती में केवल चार-पाँच शक्तिशाली व्यष्टियों से, चार-पाँच पण्डित या बुद्धिमानों से अथवा चार-पाँच आध्यात्मिक साधकों के रहने से समग्र समाज की प्रगति सूचित नहीं होती। प्रत्येक व्यष्टि के शरीर, मन और आत्मा में अनन्त विकाश की संभावनाएँ हैं। उन संभावनाओं को कार्य में लगाना ही होगा।

५/१४ स्थूलसूक्ष्मकारणोऽपयोगाः सुसन्तुलिताः विधेयाः।

Sthu'lasu'kas'maka'ran'o'payoga'hsusantulita'hvidheya'h.

भाभार्थ :—व्यष्टि और समष्टि देह की कल्याण-साधना के लिए इस तरह काम करना होगा जिससे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों में

एक सुसामंजस्य रहे। प्रत्येक मनुष्य की निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने का दायित्व समाज का है; किन्तु समाज यदि इस दायित्व की प्रेरणा से प्रेरित हो प्रत्येक घर में अन्न भेजने की व्यवस्था कर देता है, प्रत्येक के लिए गृह-निर्माण कर देता है, वैसी हालत में व्यष्टि की कर्मचेष्टा ढीली पड़ जाएगी—वह क्रमशः सुस्त पड़ जाएगा, काहिल हो जाएगा। इसीलिए निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय जिस परिमाण में अथ की आवश्यकता होगी उसे अपने सामर्थ्य के अनुसार परिश्रम-विनिमय के द्वारा मनुष्य उपार्जन कर सके, वैसी ही व्यवस्था समाज को करनी होगी और जहाँ मनुष्य के सर्वनिम्न प्रयोजन का मनोनयन करना है, वहाँ उस मनुष्य की क्रय क्षमता को बढ़ा देना ही उनके लिए प्रकृष्ट उपाय है।

सामंजस्य-विधान कहने से यह भी समझा जाता है कि जो मनुष्य शरीर, मन और आत्मा तीनों से उन्नत हैं उनसे सेवा लेने के लिये केवल समाज एक सामंजस्यपूर्ण नीति मान कर चलेगा। जिनकी शारीरिक बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक कोई एक ही शक्ति प्रकट है, समाज उनसे उसी प्रकार की सेवा लेगा। जिनकी शारीरिक और बौद्धिक दोनों शक्तियाँ ही यथेष्ट हैं, समाज उनसे अधिक परिमाण में बौद्धिक और अल्प परिमाण में शारीरिक सेवा लेने की एक सामंजस्यपूर्ण नीति मानकर चलेगा, क्योंकि बौद्धिक शक्ति अपेक्षाकृत सूक्ष्म और दुष्प्राप्य होती है। जिसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों ही शक्तियाँ मौजद हैं, समाज

उनसे अधिक परिमाणमें आध्यात्मिक, अल्प परिमाण में बौद्धिक और अत्यल्प परिमाण में शारीरिक सेवा लेगा। समाज-कल्याण में सबसे अधिक सेवा वे ही कर सकते हैं, जिन्हें आध्यात्मिक शक्ति है। उसके बाद जिन्हें बौद्धिक शक्ति है वे अधिक सेवा कर सकते हैं। जिन्हें शारीरिक शक्ति है, वे यद्यपि तुच्छ नहीं हैं तथापि वे स्वयं कुछ कर नहीं सकते। वे जो कुछ करते हैं, उसे आध्यात्मिक, बौद्धिक-शक्ति-सम्पन्न व्यष्टियों के निर्देशानुसार ही करते हैं। इसलिय समाज नियंत्रण का भार शारीरिक शक्ति-प्रधान व्यक्तियों के हाथ में रहना उचित नहीं है, साहस प्रधान व्यक्तियों के हाथ में भी रहना उचित नहीं है, बुद्धि-प्रधान व्यक्तियों के हाथों में रखना उचित नहीं है; विषय-बुद्धि-प्रधान व्यक्तियों के हाथों में भी रखना उचित नहीं है; रखना उचित है उनके हाथों में जो एक ही आधार में आध्यात्मिक—साधक, बुद्धिमान एवं साहसी हैं।

५/१९ देशकालपात्रैः उपयोगाः परिवर्त्तन्ते ते
उपयोगाः प्रगतिशीलाः भवेयुः।

Deshaka'lapa'traeh upayoga'h parivarttante te upayoga'h pragatishiila'h bhaveyuh.

भावार्थ :—किसी वस्तु का क्या यथार्थ व्यवहार है वह देश, काल, पात्रानुसार परिवर्तित होता रहता है। जो यह सहज नीति नहीं समझ सकते हैं वे लकीर के फकीर की तरह पुरातन कंकाल को ही जकड़ कर रखना चाहते हैं। इसीलिये वे समाज में खारिज हो जाते हैं। क्षुद्र नेशन-बोध,

अंचल-बोध कुल गरिमा इत्यादि वृत्तियाँ मनुष्य को इस मूल तत्व से दूर हटाकर रखना चाहती है। इसीलिये वे सहज तत्व को अकपट भाव से स्वीकार नहीं कर सकते। फलस्वरूप अपने देश तथा जनता को अवर्णनीय क्षति कर यवनिका के अन्तराल में डूब जाने के लिये बाध्य होते हैं।

देश-काल-पात्रानुसार सारी वस्तुओं के व्यवहार में परिवर्तन आयेगा, इसको मानना ही होगा और इसको जानकर प्रत्येक विषय तथा भाव (Idea) के व्यवहार में प्रगतिशील होना होगा। एक शक्तिशाली व्यक्ति जो शक्ति लेकर आज बहुत बड़ी हथौड़ी चला रहा है, वैज्ञानिक गवेषणा द्वारा उसको इस शक्ति को केवल एक हथौड़ी चलाने के काम में न लगाकर एक साथ एकाधिक हथौड़ी चलाने के काम में लगाना होगा; अर्थात् वैज्ञानिक गवेषणा में प्रगतिशीलता का भाव लेकर मनुष्य की शक्ति से क्रमशः अधिक से अधिकतर सेवा ले लेनी होगी। उन्नत प्रकार के यन्त्र आदि तथा प्रगतिशील भावधारा में सृष्ट विभिन्न उपादानों और उपकरणों के व्यवहार के फलस्वरूप समाज में छोटी-बड़ी विभिन्न प्रकार की जो असुविधाएँ दिखाई दे सकती हैं या दिखाई देंगी, उन सारी असुविधाओं का सामना साहस के साथ करना होगा और संग्राम द्वारा अपने को उपयुक्त कर जीवन की सार्वभौम चरितार्थता के पथ पर अग्रसर होना होगा।

प्रगतिशीलउपयोगतत्वमिदं
सर्वजनहितार्थं सर्वजन सुखार्थं प्रचारितम्।

आषाढ़ी पूर्णिमा १९६८ बंगाब्द

———